

श्री साईसच्चरित

॥ अथ श्रीसाईसच्चरित ॥ अध्याय १७ वा ॥



॥ श्रीगणेशाय नमः॥ श्रीसरस्वत्यै नमः॥ श्रीगुरुभ्यो नमः॥ श्रीकुलदेवतायै नमः॥ श्रीसीतारामचंद्राभ्यां नमः॥ श्रीसद्गुरुसाईनाथाय नमः॥ गताध्यायीं अभिवचन। कीं ये अध्यायीं होईल निरुपण। श्रेय आणि प्रेयलक्षण। सादरें श्रवण तें कीजे॥१॥ प्रकाश आणि अंधकार। जैसैं अन्योन्यवृत्त्याकार। भिन्नरूप तें परस्पर। श्रेय-प्रेय तयापरी॥२॥ प्रेयार्थ जयाचें मन धांवें। स्वार्थापासाव तो भ्रंश पावें। श्रेय तें विवेकरूप आहे। अविवेकरूप प्रेय कीं॥३॥ श्रेयाचा विषय केवळ विद्या। प्रेयाचा तो निखळ अविद्या। प्रेय कधीं ना भुलवी सुज्ञां। श्रेय अज्ञां नावडे॥४॥ जोंवरी कनक-कामिनीहोड। इंद्रियांसी विषयांची आवड। विवेक-वैराग्या नाही जोड। प्रेयचि गोड तोंवरी॥५॥ नीरक्षीराची मिसळ। तेवीं प्रेयश्रेयांची भेसळ। जेवीं दूग्ध तेवढें निवळ। सेविती मराळ मानसीं॥६॥ तेवींच जे धीर बुद्धिमंत। विवेकी आणि भाग्यवंत। श्रेयासी केवळ लोलंगत। प्रेयासी विन्मुख सर्वदा॥७॥ तेच पहा मंदबुद्धी। शरीर-पशु-पुत्र-धन-मानादि। योगक्षेमाच्या लागोनि नादीं। प्रेय साधिती एकलें॥८॥ श्रेय काय प्रेय काय। ज्ञात झालें जरी उभय। तैसाचि ग्रहणव्यवसाय। जरी स्वायत्त पुरुषासी॥९॥ तरीही प्राप्त होतां उभय। निवड करणें अवघड विषय। करुनि मंदबुद्धीवरी जय। आलिंगी प्रेय तयासी॥१०॥ सारूं प्रेय आदरूं श्रेय। पुरुषार्थ तो हाचि होय। असतां पयमिश्रित तोय। पयचि घेई हंस जैसा॥११॥ श्रेय आणि प्रेय हीं दोन। जरी हीं पुरुषाचे स्वाधीन। असमर्थ कराया हें विवेचन। विवेकहीन मंदमति॥१२॥ श्रेय तें आहे कशांत। आरंभीं जाणिलें पाहिजे निश्चित। मग येतां प्रतिबंध मार्गांत। प्रतिकार साद्यंत करूं ये॥१३॥ येथेंच पुरुषार्थ दृष्टीपुढां। येवोनि ठाके दत्त निधडा। म्हणोनि श्रेयार्थचि करा झगडा। करोनि धडा बुद्धीचा॥१४॥ अतर्क्य संसारचक्राचे फेर। अखंड-भ्रमती अष्टौप्रहर। आध्यात्मिकादि त्रिताप प्रखर। दुर्निवार नर साहे॥१५॥ तेणें आत्यंतिक दुःखकहर। सहन करितां होई जर्जर। शोधी मग तन्निवर्तनपर। सोपीं सुखकर साधनें॥१६॥ दुःसह हें भवचक्र परिवर्तन। होईल कैसें याचें स्तंभन। तदर्थ असेल काय साधन। हें अन्वेषण आदरी॥१७॥ थोर भाग्यें हे बुद्धि उपजतां। तेथूनि निपजे पुरुषार्थता। मग तो सदुपायसाधकता। निजस्वार्था वरील॥१८॥ अनादि अविद्या अथवा माया। शुक्तिरजत मृगजलवत् वायां। अध्यासरूप महदंतराया। विलया नेलें पाहिजे॥१९॥ स्वप्नांत सोन्याच्या गारा वर्षती। प्रयत्नें सांठवण केल्या अमिती। वाटे वेळीं कामास येती। हारवून जाती जागृती॥२०॥ दृष्टादृष्ट-भोगवासना। आशा तृष्णा वा कामना। सदैव प्रतिबंधक जाणा। समूळ खाणा या आधीं॥२१॥ अशक्य दिसाया सूर्यकरें। बुद्धी जेथूनि माघारी फिरे। जेथे वेदश्रुतीचें पाऊल न शिरे। तें निजकरें गुरु दावी॥२२॥ काम-क्रोध उभयवृत्ती। करूं न देती ज्ञानप्राप्ती। श्रवण-मनन-समाधिविच्छित्ति। हातोहातीं त्या करिती॥२३॥ दीपाकर्पूरा होतां लगटी। संभवे काय लोटालोटी। उभयत्र भेटी होण्याची खोटी। दीपत्वे उठे कर्पूर॥२४॥ श्रुतिस्मृतीला अविहित। दुष्कर्म लोळे जो अविरत। ज्ञानी असूनि काय हित। विहिताविहित जो नेणे॥२५॥ तैसाच जो नित्य अशांत। अंतःकरण असमाहित। इंद्रियलौल्यें विक्षिप्तचित्त। ज्ञानें निर्वृत होईना॥२६॥ ज्याचे चित्तास समाधान। जो गुरुपुत्र आचारवान। ज्याचें निश्चल आत्मानुसंधान। ज्ञानसंपन्न तो एक॥२७॥ हो संसार वा मोक्षगामी। जाणें जरी निजधामी। होई शरीररथस्वामी। केवळ वाग्मी काय करी॥२८॥ येथें वाचेसी नाही थार। अभ्यास एक सर्वसार। रथस्थानीं योजी शरीर। स्वयें स्थिर बैसे गा॥२९॥ या निजशरीराच्या रथीं। निजबुद्धीस करीं सारथी। स्वयें स्वामी बैसे रथी। स्वस्थचित्त ऐस तूं॥३०॥ दुर्गमरूप रसमार्गराजी। कंठावया मग सारथी योजी। आवरी मनःप्रग्रहांमाजी। दशेंद्रियवाजी उच्छृंखळ॥३१॥ घोडे जरी सैरा धांवती। लगाम राखील स्थानावरती। तो निरवून सारथिया हातीं। स्वस्थचित्तीं बैसें तूं॥३२॥ सारथी कुशल आणि निपुण। तरीच घोडे चालती कसून। तोच मनःप्रग्रहपराधीन। होतां बलहीन होतसे॥३३॥ विवेकबुद्धीचें सारथ्य जेथ। जो समनस्क समाहितचित्त। तयासीच परमपद प्राप्त। इतर मार्गांत थकतात॥३४॥ जयाचें सदा आयुक्त मन। तया न कदा समाधान। तया न तत्पदाभिगमन। संसारपरिवर्तन चुकेना॥३५॥ ऐसें तें पद परम मोठें। वास्तव्य तरी तयाचें कोठें। मनींची आशंका फिटे। प्रकट जें तें आपैसें॥३६॥ येथें न चले तर्कवाद। अनुवाद प्रवाद वा संवाद। ईशकृपेनेंच लागेल दाद। इतर वाद ते व्यर्थ॥३७॥ न चले येथ तर्काची चतुराई। तर्कज्ञमति कुंठित होई। भोळा भावचि सिद्धीस जाई। हेच नवलाई येथील॥३८॥ सम्यग्ज्ञानासी जे कारण। ते गति आन ते बुद्धीही आन। तो आगमज्ञही वेगळाच जाण। उत्तम ज्ञानदानी जो॥३९॥ काया अमोलिक चालिली वायां। धनकाम ही दुपारची छाया। जाणोनि हरीची दुर्घट माया। लागें पायां संतांच्या॥४०॥ संत भवसागरीचें तारूं। तूं हो तेथील एक उतारूं। तयांवीण पैलपारूं। कोण उतरूं समर्थ॥४१॥ विवेक-वैराग्य यांची जोड। बांधील तयांची जो सांगड। तो हो कां जडमूढ दगड। अवघड ना त्या भवसिंधु॥४२॥ षड्गुणैश्वर्य भगवंताचें। 'वैराग्य' हें प्रथमैश्वर्य साचें। असतील जे महद्भाग्याचे। विना इतरांचे वांट्या न ये॥४३॥ विहितकर्म केलियावीण। होईना चित्तशुद्धी निर्माण। चित्तशुद्धी न होतां जाण। ज्ञानसंपादन घडेना॥४४॥ तस्मात् कर्मचि एक जाण। ज्ञानप्राप्तीचें मूळ कारण। नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान। तेणेंच क्षाळण मळाचें॥४५॥ एवं शुद्ध झालेल्या चित्तीं। विवेक-वैराग्यां उत्पत्ती। शमदमादि साधनसंपत्ती। विदेहमुक्ती ये हातीं॥४६॥ फलकामसंकल्पत्यागें। चित्तैकाग्रतेच्या योगें। अनन्यत्वे जो गुरुसी शरण रिघे। पदरीं घे त्या सद्गुरु॥४७॥ जो बहिःप्रवृत्तिशून्य। भाविक भक्त अनन्य। ज्ञानलाभें होई प्रज्ञ। उपाय अन्य चालेना॥४८॥ तेंही ज्ञान लाभल्यावरी। अधर्ममार्गें आचरण करी। अत्र ना अमुत्र खालीं ना वरी। त्रिशंकूपरी लोलकंबे॥४९॥ जीवाची जे अज्ञानवृत्ती। तीच खरी संसारप्रवृत्ती। झालिया आत्मज्ञानप्राप्ती। तेच निवृत्ती संसारा॥५०॥ आत्मज्ञ सदा अहंभावरहित। धर्माधर्म-शुभाशुभविरहित। तयांस तें संसारांतर्गत। हिताहित काय पां॥५१॥ विराली देहाहंकारवृत्ती। तात्काळ तेथेंच संचली निवृत्ती। तीच जीवाची परमात्मस्थिती। खूण निश्चित्तीं बांधावी॥५२॥ प्रवृत्तीठायीं शत्रू मित्र। निवृत्तीचें तों हें विचित्र। मीच मी पाहतां सर्वत्र। शत्रुत्व-मित्रत्व तें कैचें॥५३॥ ऐसिया महासुखापुढें। देह-महदुःख तें बापुडें। तें कोण ऐहिक सुखा रडे। महत्सुख आतुडे जें॥५४॥ ऐहिक दुःखाचे डोंगर। कोसळोत मग तयावर। परि तो न हाले लवभर। गिरिवर केवळ धीराचा॥५५॥ भगवंत ज्यावरी प्रसन्न होतो। त्यालाच मग तो वैराग्य देतो। त्याशीं विवेकाची सांगड बांधितो। पार उतरवितो भवसागर॥५६॥ आदर्शी उमटल्या मुखापरी। स्पष्टात्मदर्शनीं हेतु जो धरी। तया येथें भू कीं ब्रह्मलोक वरी। जागा तिसरी नाहीच॥५७॥ यागीं होतां देवतातृप्ती। पितृलोकाची होईल प्राप्ती। लाघेल कर्मफलोपभुक्ती। आत्मसंविक्ती लाधेना॥५८॥ गंधर्व-महर्जनस्तपः-सत्य। तेथील आत्मदर्शन अति अविचित्त। यालागीं जे आत्मदर्शनासक्त। भूलोक यथोक्त वांछिती॥५९॥ येथें होते चित्तशुद्धी। आदर्शापरी निर्मल बुद्धी। शुद्ध आत्मस्वरूप त्रिशुद्धी। प्रतिबिंबित होतसे॥६०॥ दुजें स्थान जें ब्रह्मलोक। तेथेंही होतो आत्मावलोक। परि सायास लागती अनेक। कष्टकारक अतितर तो॥६१॥ सर्पावाणी माया वेटाळी। अक्षी आंतून आंतडीं पिळी। बाहेरही सर्वांग कवटाळी। समर्थ टाळी कोण तिये॥६२॥ "तुम्ही बसल्या बसल्या पहातां। खिशांत पन्नासपट रुपये असतां। काढा पाहूं बाहेर आतां। ब्रह्म तों खिशांत तुमचेच"॥६३॥ काढा म्हणतां हात घालिती। गृहस्थ पुडकें खिशांतून काढिती। दहादहांच्या पंचविंशती। नोटा मोजिती पुडक्यांत॥६४॥ गृहस्थ विरघळले मनींचे मनीं। केवढे महाराज अंतर्ज्ञानी। मस्तक ठेविती तयांचे चरणीं। आशीर्वचनीं उत्कंठा॥६५॥ मग बाबा म्हणती ते वेळे। "गुंडाळ आपुलें ब्रह्मगुंडाळें। लोभाचें जाहल्यावीण वाटोळें। ब्रह्म न मिळे तुजलागीं॥६६॥ पुत्रपश्वादि-वित्तार्जन। आसक्त

यांतचि जयाचें मन। तयास कैचें ब्रह्मज्ञान। द्रव्यव्यवधान न सुटतां॥६७॥ महाकठिण वित्तमोह। तृष्णावर्त दुःखगाह। मद मत्सर मकर दुःसह। एक निःस्पृह तरेल॥६८॥ लोभाशीं ब्रह्माचें अखंड वैर। तेथें ध्याना नाही अवसर। कैची मुक्ती विरक्ती साचार। आचारश्रष्ट लोभिष्ट॥६९॥ लोभा ठायीं नसे शांती। ना समाधान ना निश्चिती। एक लोभ वसतां चितीं। जाती मातींत साधनें॥७०॥ श्रुतिस्मृतीस अविहित। ऐसें निषिद्ध जें दुश्चरित। त्यांतचि सदैव जो आसक्त। असमाहितचित्त तो॥७१॥ तया नांव 'विक्षिप्तचित्त'। सदैव दुष्कर्मी व्यावृत्त। अखंड विषयकर्दमीं लोळत। हिताहित देखेना॥७२॥ हो कां ब्रह्मविज्ञानसंपन्न। नाही जो फलेच्छेसी निर्विण्ण। तोंवरी वाव तें ब्रह्मविज्ञान। आत्मसंपन्न नाही तो॥७३॥ कोण कांहीं मागूं येतां। अधिकार पाहती संत प्रथमता। जैसी जयाची योग्यायोग्यता। तैसेंच त्यातें देती ते॥७४॥ जया मनीं रात्रंदिन। देहाभिमान विषयचित्तन। तया गुरुपदेशाचा शीण। व्यर्थ नागवण उभयार्थी॥७५॥ चित्तशुद्धी जाहल्यावीण। परमार्थी रिघूं पाहे जो आपण। ज्ञानगर्वाची ती मिरवण। केवळ शीण तो खरा॥७६॥ यास्तव रुचेल तेंच बोलावें। पचेल तितुकेंचि अन्न खावें। नातरी व्यर्थ अजीर्ण व्हावें। हें तों ठावें सकळिकां॥७७॥ माझा भांडार भरपूर आहे। देईन जो जो जें जें चाहे। परि ग्राहकाची शक्ति पाहें। देतां मी साहे तेंच कीं॥७८॥ ऐकाल जरी हें लक्ष देऊन। पावाल तुम्ही कृतकल्याण। या पवित्र मशिदींत बैसून। असत्य भाषण न करीं मी॥७९॥ ही संतवाक्यसुधासरिता। भावार्थ येथें बुडी देतां। अंतर्बाह्य लाघे शुद्धता। क्षाळण होतां मळाचें॥८०॥ ऐसा साईनाथांचा महिमा। वर्णू जातां न पुरे सीमा। उपमूं कैसें त्या निरुपमा। शुद्धप्रेमाआधीन तो॥८१॥ माउली ती सकळांची। विश्रांती आर्तश्रांतांची। कल्पवल्ली आश्रितांची। दीनादुबळ्यांची जी छाया॥८२॥ संसारावरी पाणी देऊन। गिरिकपाटीं मौन धरून। एकांतवास स्वीकारून। निजकल्याणैकदक्ष जो॥८३॥ ऐसे संत असती बहुत। केवळ जे साधिती निजस्वार्थ। अथवा केवळ निजपरमार्थ। काय कीं अर्थ इतरांतें॥८४॥ तेवीं न साईबाबा महंत। नसतां आप्तेष्ट गणगोत। घरदार वा जायासुत। प्रपंचांत राहती॥८५॥ करतलभिक्षा पांच घरा। तरुतलवास अष्टौ प्रहरा। मांडूनि थिता प्रपंच-पसारा। व्यवहार सारा शिकविती॥८६॥ साधूनि निज ब्रह्मस्थिती। जनतेच्या कल्याणा झिजती। ऐसे संत महामति। विरळा जगतीं असतील॥८७॥ धन्य तो देश धन्य तें कुळ। धन्य तीं आईबापें निर्मळ। धन्य त्यांचा कुसवा सोज्ज्वळ। प्रसवला निर्मळ हें रत्न॥८८॥ अनायासें परिस लाधला। पाषाण समजूनि बहुतीं झुगारिला। शिरडींत या परम भागवताला। कोणीं न ओळखिला बहुकाळ॥८९॥ जैसें उकिरडां रत्न पडावें। पोरान्बाळां सांपडावें। त्यांनीं वाटेल तेथें उडवावें। खुशाल तुडवावें दगडसें॥९०॥ असो यापरी तो ब्रह्माचा भोक्ता। आशीर्वचनां पावे तृप्तता। तीच गत तुम्हां आम्हां समस्तां। बिकट रस्ता सोडावा॥९१॥ जोंवरी बाह्य विषयांचें सेवन। शब्दश्रवण स्पर्शसंवेदन। आमोदाघ्राणन बाह्यांगदर्शन। तंव न विरोधन विषयार्थी॥९२॥ झालियावीण इंद्रियनिरोधन। स्वभावप्रवृत्तपरावर्तन। प्रत्यगूपाचें अवलोकन। वा तद्बोधन अशक्य॥९३॥ आधीं व्हावें सर्वैषणाविहीन। मग सदगुरुसीं अनन्यशरण। ऐसा जो दृढश्रद्धासंपन्न। आत्मविज्ञाना पात्र तो॥९४॥ श्रोत्रादि पंचज्ञानेंद्रियें। त्यागिजेतील जें स्वस्वविषयें। मन संकल्प विकल्प स्वयें। त्यागील निश्चयें जे काळीं॥९५॥ एवं प्रतिनिवृत्त जें अंतर। बुद्धीही सांडील निश्चयव्यापार। तेच ते परमगती साचार। निर्विकार ब्रह्म तें॥९६॥ बुद्धी होईल निश्चयशून्य। चित्ती जें पावेल चैतन्य। तेंच तोच एक न तदन्य। आत्म्यातें धन्य जाणील॥९७॥ होतां विषयांपासून विन्मुख। होतील इंद्रियें आत्मोन्मुख। तेव्हांच प्रकटेल निजसुख। इतर सर्व असुख तें॥९८॥ जें विषयविकार-प्रच्छन्न। अतिसूक्ष्म दुर्दर्श आत्मज्ञान। परमानंदप्राप्तीचें साधन। अतिगहन आकळ्या॥९९॥ हिरण्यगर्भपदापर्यंत। इहामूत्रविषयीं विरक्त। तोच एक ब्रह्मपदाभिषिक्त। तो एक मुक्त जाणावा॥१००॥ चित्तास विषयापासून। हळूहळू माघौतें फिरवून। आत्मरूपीं स्थिर करून। आत्मज्ञान जोडावें॥१०१॥ इहामूत्रफळभोगविराग। हर्षशोकादि द्वंद्वत्याग। बुद्धिमंतासीच हा भोग। अध्यात्मयोग तो हाचि॥१०२॥ अधिदैवाध्यात्माधिभौतिकीं। निखिल वडवानल ज्वालादिकीं। संतप्त संसारार्णवोदकीं। कोण कीं सुखी असेल॥१०३॥ तेणें व्हावया निजसमुद्धरण। व्हावें साईप्रसादसंपन्न। करावें तच्चरित्रावलोकन। श्रवण मनन सादरें॥१०४॥ हें श्रीसाईनाथचरित्र। श्रोतीं सपुत्र-मित्र-कलत्र। परिसतां साधेल इहपरत्र। लीला विचित्र बाबांची॥१०५॥ सभाग्य श्रद्धाळू श्रोते। तेचि या कथांचे परिसते। परिसतां अति हळुवारचितें। शांतते येते शांतता॥१०६॥ या कथानिःस्यंदनिर्झरें। कर्माकर्मलवण विरे। श्रवणद्वारें नयनीं शिरे। रूप साजिरें साईचें॥१०७॥ चरित्रश्रवणें पातकां न्हास। चरित्रश्रवणें काळावरी कास। चरित्रश्रवणें परमोल्हास। श्रोते निरायास पावती॥१०८॥ श्रवणें शुद्ध अंतःकरण। श्रवणें चुकेल जन्ममरण। श्रवणें श्रोतयां ब्रह्मपण। केवळ ब्रह्मार्पणकर्मनें॥१०९॥ ऐसा हा साईसेवाकाम। सेवकां सदा करी निष्काम। निजभक्तां श्रीसाईराम। देईल आराम सर्वदा॥११०॥ भागशः या ग्रंथाचें वाचन। अथवा श्रवण आणि परिशीलन। मनन आणि निदिध्यासन। करा अनुदिन श्रोते हो॥१११॥ “आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्”। हे तरी तैत्तिरीय श्रुति विख्यात। तेंच ते बाबा अनुवादत। श्रुतिनिर्णीत भक्तांतें॥११२॥ “फिकीर न करावी यत्किंचित। सदा असावें आनंदभरित। चिंता न करावी आमरणान्त”। उपदेश नित्य बाबांचा॥११३॥ असो ब्रह्मतत्त्वनिर्धारण। हें या अध्यायाचें धोरण। कीं ही नौका भवतारण। जाईल शरण साईस त्या॥११४॥ हितवचन वारंवार। सांगावें करावा परोपकार। बाबा तयाचा करुनि अनुकार। तदनुसार प्रवर्तती॥११५॥ हें सयुक्तिक कीं अयुक्तिक। हे मतभेद केवळ वैयक्तिक। जेणें सामान्य जनतेसी तोख। तोच कीं रोख ये ग्रंथी॥११६॥ हेंचि आहे येथें प्रयोजन। बाबा जाणीत कार्यकारण। जैसें तयाचें मनेप्सित जाण। होष्यमाणही तैसेंच॥११७॥ गुरुमुखींच्या कथा ऐकाव्या। अतर्क्य लीला अनुभवव्या। स्मरतील त्या संग्रहीं ठेवाव्या। परिसवाव्या इतरांतें॥११८॥ साईचें हें चरित्र बरें। श्रवण करितां अत्यादरें। श्रोतियावक्त्यांचें दैन्य हरे। दुर्दिन ओसरे अवघ्यांचें॥११९॥ पाहोनि बाबांची अलौकिक लीला। कोण अभागी चकित न झाला। केवळ दर्शनमात्रेचि निवाला। लीन झाला पदकमलीं॥१२०॥ विशद चरितें या साईचीं। प्रशस्त चितें ऐकावयाचीं। संधी येतां ऐसी सुखाची। कोण फुकाची दवडील॥१२१॥ पुत्र-मित्र-कलत्रावर्त। कामक्रोधादिग्राहयुक्त। नाना रोग तिभिगिलोज्जृंभित। उद्वेलित आशाकल्लोळीं॥१२२॥ वेळीं उद्वेगाचा झटका। येवोनि जातो घटकोघटका। द्वंद्व माजूनि उडतो खटका। परि न तटका तोडवें॥१२३॥ स्वयेंच जीवास करावा बोध। कीं तूंच आहेस ब्रह्म शुद्ध। झालासी देहसंगें बद्ध। नलिकापिनद्ध शुक जैसा॥१२४॥ भुललासी केवळ मोहमाये। तेणें विसरलासी निजसोये। तुझा तूंच सावध होयें। स्वरूपा ये झडकरी॥१२५॥ भ्रमामुळें वाढला भ्रम। देहाभिमानादि संभ्रम। मृगजलसम हें “मी मम”। जाणूनि निर्गम होई कां॥१२६॥ या मीतूपणाचे प्रपंची। गुंतावें कां नीट विवंची। सोड आवळले पाय पंची। उड्डाणें उंची विहर कीं॥१२७॥ मुक्त तेथें बद्धता असे। बद्धतेपाशीं मुक्तता वसे। परत होऊनियां उभयदशे। शुद्ध स्ववशे राहीं बा॥१२८॥ हें तों साक्षेपतेवें ज्ञान। सुख वा दुःख सर्वाज्ञान। दवडोनि संपादीं विज्ञान। ब्रह्मज्ञान पाशींच॥१२९॥ देहीं जोंवर मीतूपणा। तों न तूं निजहिताचा देखणा। तो टाक, पाहीं आपआपणा। कृपणपणा भिरकावीं॥१३०॥ कुबेरास धनवंत। भिक्षावृत्ती जरी विचरत। तरी तें केवळ नष्टचरित। विपरीतपण अज्ञानानें॥१३१॥ करावें नित्य सच्छास्त्रश्रवण। विश्वासें पाळावें सदगुरुवचन। राहूनि सदा सावधान। अनुसंधान राखावें॥१३२॥ पाहोनि जन ते आचारपद्धती। निजोद्धार मार्ग चोखाळती। असंख्य जी उद्धरती। सहज गती त्यांचेनी॥१३३॥ कदा येईल ऐसी घटका। घडेल भवपाशांतूनि सुटका। जया अहर्निश हा मनास चटका। अवचट तटका तो सोडी॥१३४॥ साधवेल तो एकान्त साधून। संसार निःसार ही गांठ बांधून। अध्ययन आणि आत्मचित्तन। यांत चिरंतन असावें॥१३५॥ भक्तिश्रद्धान्वित मनें। शिष्ये पूर्ण विनयसंपन्न। शरण साष्टांग गेलियाविणें। ज्ञानकेणें गरु न दे॥१३६॥ सर्वस्वीं गुरुशुश्रूषा करावी। बंधमोक्षवृत्ती विवरावी। विद्याविद्यादि प्रश्नीं धरावी। गुरुरावीं सफलता॥१३७॥ आत्मा कोण परात्मा कोण। कोणा न सांगावें गुरुवीण। गुरुही न येतां शरण पूर्ण। देती न कणही ज्ञानाचा॥१३८॥ गुरुविना इतरें देतां ज्ञाना। संसारनिवर्तक तें होईना। मोक्षफलप्रद लवही असेना। मना ठसेना कदापि॥१३९॥ तस्मात् गुरुविना ज्ञान नोहे। विदित सकल विद्वानां हें। ब्रह्मात्मैक्यविषयीं सोये। समर्थ पाय गुरुचे॥१४०॥ तेथें न करितां अनमान। सांडोनि ताठा अभिमान। होवोनि अखंड दंडायमान। खालवा मान गुरुपदीं॥१४१॥ दासानुदास मी तुमचा। भरवंसा एक तव पदांचा। धरोनि पावलों म्हणा वाचा। धडा जीवाचा दृढ करा॥१४२॥ मग पहा चमत्कार तयाचा। तो गुरुदयार्णव हेलावे साचा। निजशेजीं तरंगाच्या। झेली वरच्यावरी तो॥१४३॥ शिरीं ठेवी अभयहस्त। इडा पिडा करोनि उद्ध्वस्त। जाळोनि पातकाच्या राशी समस्त। उदी मस्तकीं फांसी तो॥१४४॥ एवं ब्रह्मार्थिया ब्रह्मनिरूपण। हें तों केवळ निमित्त जाण। जीवशिवैक्यतेची खूण। भक्तां संपूर्ण कथियेली॥१४५॥ आतां महाराजांची एवढी। अतुल प्रज्ञा विद्या गाढी। असतां थट्टेची काय प्रौढी। काय आवडी विनोदी॥१४६॥ सहज शंका घेईल मन। परि पाहतां विचारून। एकचि आहे समाधान। सावधान परिसिजे॥१४७॥ मुलांबाळांसवें बोलतां। तयांच्या बोंबड्या बोलांत रमतां।

प्रौढत्वाच्या कथा वार्ता। कधीही होतात काय कीं॥१४८॥ नसतें प्रेम का तयांवरी। तें काय वर्णू शकेल वैखरी। परि बोधप्रदान कुसरी। विनोद मस्करी ही एक॥१४९॥ काय आहे रोग पोटी। हे काय आहे बाळास दृष्टी। मातेस पाजावी लागे गुटी। जरी तें हट्टी पिईना॥१५०॥ कधीं आंजारून गोंजारून। कधीं नेत्र पिंजारून। कधीं चतुर्दशरत्नप्रयोजन। कधीं आलिंगन सप्रेम ॥१५१॥ तीच होऊं लागतां प्रौढ। करावें वाटे तयांचें कोड। परि बुद्धी तीव्र वा बोजड। तेसाच निवाड ज्ञानाचा॥१५२॥ तीव्र बुद्धीचें तीव्र ग्रहण। उपदेश ठरतां नलगे क्षण। तेंच जडबुद्धीचें विलक्षण। बहुत रक्षण सायास॥१५३॥ समर्थ साई ज्ञाननिधी। जया भक्ताची जैसी बुद्धी। आधीं निर्धारून पात्रशुद्धी। ज्ञानसमृद्धी वितरत॥१५४॥ तयांस पूर्ण अंतर्ज्ञान। तयांस आधींच सर्वांची जाण। जयास जैसें योग्य साधन। तयाचें नियमन तैसेंच॥१५५॥ जैसा जयाचा अधिकार। तयाचा आधींच करुनि विचार। योग्यायोग्यतेनुसार। भक्तांचा भार बाबांना॥१५६॥ तैसेच आम्ही दिसाया थोर। परि त्या सिद्ध साईसमोर। खरेच आम्ही पोरांहूनि पोर। विनोदीं आतुर सर्वदा॥१५७॥ विनोदांचें बाबा आगर। जे जे ठायीं जयासी आदर। तें तें यथेष्ट पुरवूनि समग्र। राखीत अव्यग्र भक्तांस॥१५८॥ सुबुद्ध वा बुद्धिमंद। वाचितां प्रगटेल परमानंद। परिसतां वाढेल श्रवणछंद। मननं स्वानंद-संतुष्टी॥१५९॥ आवर्तनीं परमार्थबोध। निदिध्यासनीं महदाल्हाद। सौख्य उपजेल अखंड निर्बाध। ऐसी अगाध ही लीला॥१६०॥ भाग्यें जेणें अनुभव येथिला। यत्किंचितही असेल भोगिला। कायावाचामनें तो खिळिला। अतर्क्य लीला साईची॥१६१॥ हेमाड साईपार्यीं शरण। विनोदमार्गे ज्ञानप्रदान। भक्तकल्याण एक प्रयोजन। निमित्त जाण ब्रह्मार्थियां॥१६२॥ पुढील अध्याय याहूनि गोड। श्रवणार्थियांचें पुरेल कोड। माझिया जीवींची गुप्त होड। फोड फोडोनि पुरविलीं॥१६३॥ मी जाईन माधवापार्षीं। बाबांचा निरोप देईन त्यांशी। पावेन कैसा अनुग्रहाशी। साद्यंतेंशी परिसा जी॥१६४॥ स्वस्ति श्रीसंतसज्जनप्रेरिते। भक्तहेमाडपंतविरचिते। श्रीसाईसमर्थसच्चरिते। ब्रह्मज्ञानकथनं नाम सप्तदशोऽध्यायः संपूर्णः॥

॥श्रीसद्गुरुसाईनाथार्पणमस्तु॥ शुभं भवतु॥

=====